

आर्थिक उदारीकरण और प्राथमिक शिक्षा

संदर्भ अमर्त्य सेन का आर्थिक चिंतन

□ सुरेश पण्डित

अमर्त्य सेन ने कल्याणकारी अर्थशास्त्र को क्लासिकल अर्थशास्त्र के न केवल बराबर खड़ा किया बल्कि उसे दर्शन और नैतिकता का ठोस परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। उन्होंने स्वास्थ्य और शिक्षा को विकास के अहम मापदण्डों में शामिल कराया। यही नहीं, वे 'कैसी भी शिक्षा' की नहीं बल्कि शिक्षा में गुणवत्ता की बात करते हैं। अमर्त्य सेन के नोबल पुरस्कार पर इतराने और उन्हें भारत रत्न से नवाजने वाली भारत सरकार विकास के अपने एजेन्डे में स्वास्थ्य और शिक्षा को लेकर बहुत गंभीर नहीं दिखती, न ही उसे सेन के 'विषमता-विमर्श' और जीवन की गुणवत्ता विषयक चिंतन से ही कुछ लेना देना है। वह 'विचारों नहीं व्यक्तियों का सम्मान' करने वाली परंपरा पर कायम है।

‘नोबल पुरस्कार प्राप्त होने के बाद जितनी व्यापक चर्चा अमर्त्य सेन की उनके आर्थिक दर्शन को लेकर हुई उतनी सामाजिक सरोकारों के प्रति उनकी अविचल निष्ठा को लेकर नहीं हुई। सच पूछा जाये तो पिछले कुछ दशकों में अर्थशास्त्र का अध्ययन शेयर बाजार के उतार चढ़ाव और उपभोक्ता के व्यवहार के सूक्ष्म निरीक्षण और उनकी विशद व्याख्या में कैद होकर रह गया था। अमर्त्य सेन ने उसे न केवल उस परिधि से उन्मुक्त किया बल्कि उन नैतिक पहलुओं और समाज की बुनियादी आवश्यकताओं से संबद्ध भी किया जिनके प्रति पहले के अर्थशास्त्री विशेष चिन्ताग्रस्त नहीं होते थे। सबके लिए बेहतर शिक्षा और स्वास्थ्य की समुचित देखभाल अमर्त्य सेन के आर्थिक दर्शन की सदा से मूल चिन्ता रही है। सिद्धांततः वे इन दोनों बातों को मानव विकास की इयत्ता का आकलन करने व सूचकांक निर्धारित करने का प्रमुख मानदण्ड मानते रहे हैं। इनके प्रति उनकी अटूट प्रतिबद्धता का ही यह परिणाम है कि उन्होंने अपनी संपूर्ण पुरस्कार राशि अपनी मातृभूमि पश्चिमी बंगाल और और बांगला देश के भाई बहनों की निरक्षरता और स्वास्थ्यहीनता की भयावह स्थितियों को दूर करने के निमित्त सौंप दी। बड़े अफसोस की बात है कि उनके इस कदम की जितनी प्रशंसा लोगों के द्वारा और मीडिया में की जानी चाहिये थी उतनी नहीं की गई।

साधारणतः यह माना जाता है कि 1991 में उदारीकरण के प्रथम अध्याय का विधिवत् पाठ शुरू हुआ था और 1992 में जीन ड्रेज के साथ मिलकर अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक “इन्डिया: इकोनोमिक डेवलपमेन्ट एन्ड सोशल अपोर्च्यूनिटी” में उस समय शिक्षा और स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ अन्य देशों की तुलना में भारत की क्या स्थिति है उसे निम्न तालिका से स्पष्ट किया था-

क्रम	देश	जन्म के समय जीवन प्रत्याशा (वर्षों में)	शिशु मृत्युदर (प्रति हजार)	वयस्क साक्षरता दर (प्रति सौ)	पुरुष-स्त्री अनुपात
1	बांग्लादेश	55	91	37	94
2	पाकिस्तान	69	95	36	92
3	श्रीलंका	72	18	89	99
4	चीन	69	31	78	94
5	द. कोरिया	71	13	99	100
6	थाइलैण्ड	69	26	96	95
7	भारत	59	79	52	93

माना कि कुछ मामलों में हमारा देश बांग्लादेश और पाकिस्तान से बेहतर स्थिति में है लेकिन श्रीलंका सहित दक्षिण पूर्व एशिया के तीनों देश हमसे बहुत आगे हैं। गौरतलब तथ्य यह भी

है कि ये आंकड़े 1991-92 के हैं अर्थात् उस समय के हैं जब तक हमने समाजवादी अर्थनीति को पूरी तरह तलाक नहीं दिया था। तब यह सोच तेजी से उभरने लगी थी कि अब सरकार की अर्थनीति अधिक ठोस और व्यावहारिक दिशा में आगे बढ़ेगी तथा शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जरूरतों तक आम लोगों की पहुंच बढ़ेगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ, कुछ तो सरकारी संकल्प की दृढ़ता के अभाव के कारण और कुछ सीधे-सीधे इन दोनों विषयों के केन्द्रीय सरकार के क्षेत्राधिकार में न होने के कारण। राज्य सरकारें हमेशा से केन्द्र का मुंह जोहने वाली रही हैं। वे अपने संसाधन बढ़ा कर ऐसे कामों को अधिकाधिक प्रभावी ढंग से संरजाम देने की बजाय केन्द्र से अधिकाधिक धन पाने की जुगत में लगी रही हैं। आय के स्रोत बढ़ाने का मतलब है अधिक

कहते हैं आंकड़े झूठ नहीं बोलते। पर यह सच्चाई भी कैसी है कि लगभग छः प्रतिशत राशि बढ़ने के बावजूद इन सेवाओं में कोई उल्लेखनीय सुधार होता हुआ दिखाई नहीं दिया है। इसके विपरीत हुआ यह है कि बढ़ते निजीकरण के कारण दोनों ही सेवाएं न केवल लगातार महंगी हुई हैं बल्कि जनसाधारण की पहुंच से दूर भी हुई हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आज जिसके पास पैसा है वह तो अच्छी से अच्छी शिक्षा व चिकित्सा सुविधा प्राप्त कर सकता है पर जिसके पास पैसा कम है या नहीं है उसका मालिक तो ऊपर वाला ही है।

शिक्षा के बारे में अपनाई गई हमारी नीति की विसंगति व विवेकशून्यता का पता तो हमें इसी बात से लग जाता है कि आज हमारे पास जितने वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजिनियर व टेक्नीशियन हैं

उतने शायद ही दुनिया भर में किसी अन्य देश के पास हों; पर यह भी इस देश की ही विशेषता है कि यह और किसी चीज का निर्यात करे या न करे इनका निर्यात थोक में करता है। वह भी मुफ्त दूसरी ओर आधी जनसंख्या निरक्षर है और बीस करोड़ बच्चे स्कूलों से बाहर हैं। हम आम लोगों से टैक्स वसूल कर इन वैज्ञानिकों की फसल तैयार करते हैं लेकिन जब इनसे लाभ पाने का समय



शिक्षा के बारे में अपनाई गई हमारी नीति की विसंगति व विवेकशून्यता का पता तो हमें इसी बात से लग जाता है कि आज हमारे पास जितने वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजिनियर व टेक्नीशियन हैं उतने शायद ही दुनिया भर में किसी अन्य देश के पास हों; पर यह भी इस देश की ही विशेषता है कि यह और किसी चीज का निर्यात करे या न करे इनका निर्यात थोक में करता है। वह भी मुफ्त दूसरी ओर आधी जनसंख्या निरक्षर है और बीस करोड़ बच्चे स्कूलों से बाहर हैं।

करारोपण या सख्ती से कराधान करना। दोनों ही कामों से ये इसलिये बचती रहती हैं क्योंकि इनसे उनकी लोकप्रियता घटती है और वोट बैंक लुटता है। केवल केरल की सरकार इस मनोवृत्ति का अपवाद रही है जिसने इस प्रकार की जन सुविधाओं को इतना सुलभ बना दिया कि अपनी उपलब्धि में यह चीन और श्रीलंका के बराबर पहुंच गई। अब उदारीकृत अर्थ व्यवस्था ने उसकी गति को भी नियंत्रित करना शुरू कर दिया है।

1991 के बाद जन सुविधाओं के प्रति बार-बार बदलती प्रत्येक केन्द्रीय सरकार की चिन्ता कितनी रही है इसका अन्दाजा अब तक किये गये योजनागत व्यय के आंकड़ों से लिया जा सकता है। 1991-92 में यह व्यय कुल व्यय का 11.36 प्रतिशत था जो 1997-98 में बढ़कर 17.1 प्रतिशत हो गया।

आता है तब ये विदेश पलायन कर जाते हैं। यह सारी उच्च या तकनीकी शिक्षा पनपाई गई है साक्षरता तथा प्राथमिक शिक्षा को पीछे धकेलकर। परिणाम यह हुआ है कि साक्षरता के व प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में चाहे हम चीन और श्रीलंका से कोसों पिछड़े हों, उच्च शिक्षा में उनसे आगे हैं। यह असन्तुलन जाहिर है इसलिए पैदा हुआ कि हमने उच्च व तकनीकी शिक्षा को कौड़ियों के मोल लुटाया जिस का खमियाजा साक्षरता व प्राथमिक शिक्षा को भुगतना पड़ा है।

भारतीय राजनीति में इक्कीसवीं सदी के लिये तैयार होने का नारा सर्वप्रथम राजीव गांधी ने दिया और अर्थव्यवस्था के उदारीकरण तथा नवीनतम टेक्नोलोजी की अवाप्ति हेतु देश में माहौल तैयार

करने की शुरुआत भी उन्होंने ही की। तेजी से बदलते वैश्विक परिदृश्य के अनुरूप राष्ट्रीय शिक्षा नीति को ढालने की पहल भी उन्होंने ही की। 1986 में बनी राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने जहां शिक्षा के आधुनिकीकरण और व्यवसायीकरण पर विशेष बल दिया, वहीं निजीकरण को प्रोत्साहित करने का संकल्प भी व्यक्त किया। इस नीति के लागू होने के पांच साल बाद प्रधानमंत्री नरसिंहा राव ने इसकी समीक्षा के लिये जनार्दन रेडडी की अध्यक्षता में जो समिति बनाई थी उसकी रिपोर्ट में जो तीन सिफारिशें प्रमुखता के साथ

रेखांकित की गई थीं, वे इस प्रकार हैं (1) विश्व विद्यालयों को दिये जाने वाले सरकारी आर्थिक अनुदान में काफी कटौती की जाये और उन्हें इसकी आपूर्ति निजी संसाधन जुटाकर करने के लिए पाबन्द किया जाये। कोशिश यह रहे कि वे जल्दी से जल्दी आत्मनिर्भर बन जायें व सरकार से किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा न रखें। तकनीकी संस्थानों को धीरे धीरे अपने पैसे बचाते हुए दस साल में अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए कहा जाये।

(3) अव्यावसायिक तथा केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता 1990-91 के स्तर पर ही अवरूद्ध कर दी जाये तथा उन्हें शेष राशि की आपूर्ति निजी संसाधनों से जुटाने के लिए कह दिया जाये। इस समिति ने पिछली सरकारों की असन्तुलनकारी शिक्षा नीति की कटु आलोचना करते हुए उच्च शिक्षा को इतनी सस्ती बनाने की प्रवृत्ति को सर्वथा अनुचित ठहराया। समिति का तर्क था कि उच्च शिक्षा को इतनी कम कीमत पर पाकर हमारे युवकों में उपार्जन क्षमता तो जरूर पनपती है पर उससे समाज को उतना लाभ नहीं होता जितना स्वयं उनको होता है। बहुत मामूली सी कीमत चुका कर डाक्टर, इंजिनियर अथवा टेक्नोक्रेट बने युवक या तो अधिक वेतन एवं अन्य सुविधाओं के लालच में विदेश चले जाते हैं या फिर यहीं रह कर नौकरियां करते हुए अन्य तरीकों से अधिकाधिक धन अर्जित करने में लग जाते हैं,। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए बाद में सुप्रीम कोर्ट ने भी कैपिटेशन फीस को जायज करार दे दिया था।

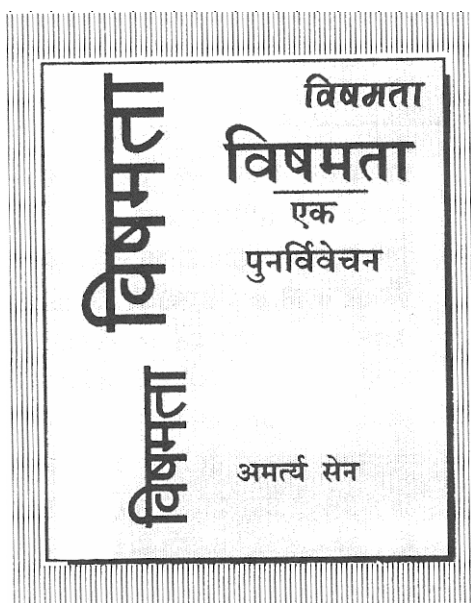
लेकिन उच्च या तकनीकी शिक्षा-संस्थानों को जल्दी से जल्दी आत्मनिर्भर बनाने के सरकारी प्रावधानों और शिक्षण संस्थाओं

से अधिकाधिक धन कमाने की लालसा से प्रतिदिन खुल रहे निजी संस्थानों ने यह समस्या पैदा कर दी है कि उनमें अपेक्षित धनराशि खर्च न कर पाने वाले निर्धन लोगों के लिये तो उच्च शिक्षा के द्वार ही बन्द हो गये हैं। भारतीय संविधान में सबको आगे बढ़ने के समान अवसर देने का जो प्रावधान किया गया है वही खारिज होता दिखाई देने लगा है। दरअसल यह कदम विकसित देशों की शिक्षा व्यवस्था को देखकर उठाया गया था पर वहां तो युवकों को अंशकालिक काम आसानी से मिल जाता है जिससे प्राप्त राशि

को वे उच्च शिक्षा में लगाकर अपनी उन्नति कर सकते हैं। जैसे जैसे उनकी योग्यता बढ़ती जाती है अधिक ऊंची नौकरी और अधिक वेतन के द्वार उनके लिए खुलते जाते हैं, इसलिए वहां उच्च शिक्षा हेतु अधिक फीस जुटाना उनके लिए मुश्किल नहीं होता। जबकि यहां अर्द्ध या अल्पशिक्षितों को काम कौन देगा? ऐसी स्थिति में शिक्षा के निजीकरण के बावजूद यदि कोई ऐसा प्रावधान नहीं होता है कि गरीबों को भी उच्च शिक्षा के अवसर मिलते रहें तो वे स्कूल स्तर की शिक्षा पाकर ही रूक जायेंगे और इसके साथ पिछले कुछ दशकों से गरीब, दलित और पिछड़ी जातियों के परिवारों के

मध्यवर्गीकरण का जो सिलसिला चला आ रहा था वह भी रूक जायेगा। क्योंकि टेक्नोलोजी के निरंतर विकसित होते जाने और बाजार की प्रतिद्वन्दिता बढ़ते जाने के फलस्वरूप भविष्य में अधिकाधिक उच्च शिक्षा प्राप्त तकनीकी विशेषज्ञों की मांग बढ़ेगी और ये अर्धशिक्षित लोग रोजगार देने वाली एजेंसियों के लिये बिल्कुल निरर्थक होते जायेंगे। अभी हालत यह है कि दुनिया में सबसे अधिक शिक्षित बेरोजगार हमारे देश में हैं। आगे चलकर यह स्थिति और बदतर हो जायेगी।

प्रो. अमर्त्य सेन भी उच्च शिक्षा के प्रसार की बजाय आम लोगों की साक्षरता बढ़ाने तथा प्राथमिक शिक्षा प्रत्येक बालक को अनिवार्यतः दिलाने की वकालत करते हैं। उनका मानना है कि उच्च शिक्षा से जो कुछ मिलने की अपेक्षा की गई थी वह पूरी नहीं हुई है जबकि प्राथमिक शिक्षा से देश को लाभ हुआ है। परन्तु विश्वविद्यालयी शिक्षक संघ सेन के मत से बिल्कुल इतिफाक नहीं रखता। वह मानता है कि उच्च शिक्षा की गुणवत्ता तथा उपादेयता



इस बात पर निर्भर करती है कि आप उसे कितनी आर्थिक संपन्नता देते हैं। वह सभी लोगों के लिये उच्च शिक्षा संस्थानों के दरवाजे खुले रखने पर बल देता है। उसका मानना है कि साक्षरता का प्रसार कर सब लोगों को शिक्षित करने के बजाय अधिकाधिक लोगों तक उच्च शिक्षा की सुविधायें मुहैया करवाई जायें क्योंकि आगे ऐसे शिक्षित लोगों की मांग बढ़ती जायेगी। अधिकाधिक लोगों को उच्च व्यावसायिक दक्षता दिलाना उसके मतानुसार आज की शिक्षा व्यवस्था के लिए परम आवश्यक है।

और भी कुछ ऐसे अर्थशास्त्री हैं जो अमर्त्यसेन के प्राथमिक शिक्षा व साक्षरता के प्रसार पर जोर देने की बात पर कटाक्ष करते

अल्पसंख्यक, पिछड़े और दलित लोगों को शिक्षा पाने का अधिकार से वंचित कर मध्यमवर्ग को उच्च शिक्षा की सुविधा न जुटाई जाती रहे।

अमर्त्य सेन ने प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की बात को सामने रखकर देश के बुद्धिजीवियों को वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर पुनः सोच विचार करने के लिए बाध्य कर दिया है। अब बहस का मुद्दा यह बन गया है कि कुछ अधिक लोगों को व्यावसायिक व विशेषीकृत उच्च शिक्षा दी जाय अथवा सबको न्यूनतम स्तर की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाये। जाहिर है एक पर जोर देने से दूसरी का कमजोर होना आवश्यक है। पर क्या यह जरूरी है कि

इनमें से एक पर ही विशेष ध्यान दिया जाये? क्या दोनों के बारे में संतुलित ध्यान देने से काम नहीं बन सकता? माना कि देश को अधिकाधिक डाक्टरों, इंजिनियरों, वैज्ञानिकों व तकनीकी लोगों की आवश्यकता है पर बाकी लोगों को कम से कम प्राथमिक शिक्षा पाने का भी तो हक है। इस संदर्भ में विश्व बैंक के प्रमुख अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिग्लिट्ज की यह राय



अमर्त्य सेन ने प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की बात को सामने रखकर देश के बुद्धिजीवियों को वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर पुनः सोच विचार करने के लिए बाध्य कर दिया है। अब बहस का मुद्दा यह बन गया है कि कुछ अधिक लोगों को व्यावसायिक व विशेषीकृत उच्च शिक्षा दी जाय अथवा सबको न्यूनतम स्तर की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाये। जाहिर है एक पर जोर देने से दूसरी का कमजोर होना आवश्यक है। पर क्या यह जरूरी है कि इनमें से एक पर ही विशेष ध्यान दिया जाये? क्या दोनों के बारे में संतुलित ध्यान देने से काम नहीं बन सकता?

गौरतलब है, वे कहते हैं - “विश्व विद्यालयों पर इसलिये खर्च नहीं किया जाता कि उनसे चन्द लोगों को उच्च शिक्षा की सुविधा मिल जाती है बल्कि इसलिए किया जाता है कि उससे (उच्च शिक्षा से) देश दुनिया के नये विचारों को ग्रहण करने योग्य बन जाता है। क्या हमारे उच्च शिक्षा प्राप्त वैज्ञानिक इस श्रेय के हकदार नहीं हैं कि उन्हीं की बदौलत हम दूर संचार, सूचना तकनीकी, सैन्य सामग्री एवं चिकित्सा आदि के क्षेत्र में हुई नवीनतम प्रगति से अवगत हो सके हैं!” पर सेन उच्च शिक्षा के इस महत्व को पूरी तरह दरकिनार नहीं करते हुए सुझाते हैं कि फिलहाल हम ऐसे वैज्ञानिकों का इंग्लैण्ड से आयात कर अपना काम चला सकते हैं। आखिर हमारे वैज्ञानिक भी तो दूसरे देशों में जाकर उनका काम कर ही रहे हैं। इंग्लैण्ड के ट्रिनिटी कालेज की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि वहां के

हुए कहते हैं कि सेन भारत को विकसित देशों के बराबर नहीं होने देना चाहते हैं क्योंकि वे और उन जैसे अन्य लोग यहां की गरीबी को विकसित विश्व के सामने रख अपना रुतबा बनाये रखना चाहते हैं। पर सेन अपने ही मित्रों व साथियों की इस तरह की कटु आलोचना से तनिक भी विचलित नहीं होते। वे स्पष्ट और सशक्त स्वर में उच्च शिक्षा पर बहाई जा रही अकूत धन राशि में अधिकतम कटौती कर उससे साक्षरता एवं प्राथमिक शिक्षा को व्यापक विस्तार देने की सिफारिश करते हैं। उनका मानना है कि हम जनतंत्र की सफलता का चाहे जितना ढोल पीटते रहें, इसकी कमजोरियां दूर करने तथा इसे यथार्थ में प्रभावी बनाने की पहली शर्त सब लोगों का न्यूनतम स्तर तक अनिवार्यतः शिक्षित होना ही है। अपने आलोचकों के तर्कों का जबाव देते हुए वे कहते हैं कि देश की अर्थनीति में अब इतना संशोधन अवश्य होना चाहिये कि

अध्येता रहे छात्रों में से अब तक 35 छात्र नोबल पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। इसलिये बेहतर यह होगा कि ऐसी ही किसी ख्याति प्राप्त शिक्षण संस्था से हम ऐसा अनुबन्ध कर लें कि वह हमें वैज्ञानिक प्रदान करता रहे ताकि हमारा उच्च शिक्षा पर बढ़ रहा व्यय भार कम से कम हो सके और उस बचत से हम शिक्षा वंचित लोगों को अधिकाधिक शिक्षित कर सकें।

वे ट्रिनिटी जैसी संस्था को विदेशी नहीं मानते। उनका तर्क है कि उनमें लगा पैसा भी भारत जैसी तीसरी दुनिया के देशों के आर्थिक शोषण से प्राप्त हुआ है। बड़ी बड़ी मल्टीनेशनल कम्पनियां इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा अन्य योरोपीय देशों में धन लगाकर जो

विश्वविद्यालय चला रही हैं वह पैसा भी भारत जैसे देशों में उनके द्वारा निवेश की गई धन राशि के लाभांश से ही प्राप्त हुआ है। इस प्रकार आर्थिक उदारीकरण के इस दौर में जब अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं देशों को सब्सिडी खत्म करने, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सीमित दर सीमित करते चले जाने जैसे निर्धन, वंचित वर्ग विरोधी कदम उठाने के लिए मजबूर कर रहीं हैं, तब अमर्त्य सेन का सब के लिये शिक्षा व स्वास्थ्य का नारा उन्हें 'गरीबों का प्रवक्ता' होने का गौरव दिलाता है। सचमुच उनकी बातों का चाहे जितना विरोध क्यों न हो उन्हें आसानी से खारिज नहीं किया जा सकता।◆